

# ॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

## यज्ञविज्ञान-वनस्पतिविज्ञान-प्रकरण

पञ्चमो दिवसोऽद्याभूत्प्रवासस्य हिमालये।  
हिमालयरहस्यानि देवर्षीर्मार्गदर्शने ॥ १ ॥  
मण्डलं ब्रह्मवेत्तृणामृषीणां पर्यवेक्षणम्।  
विदधत्क्षेत्रयात्राया आनन्दं परमं ययुः ॥ २ ॥  
दृश्यं नेत्रैस्तु संदृष्टं केवलं कौतुकं नृणाम्।  
समाधत्ते परं तेन भावनाश्च विचारणाः ॥ ३ ॥  
संयुज्यन्ते सदा दिव्यदर्शनं तत्तदोच्यते।  
संक्षिप्तं नाम चास्यैव दर्शनं सन्निगद्यते ॥ ४ ॥  
ऋषीणां देवमूर्तीनां दर्शनस्यैवमेव हि।  
माहात्म्यं कथितं लोके विद्वद्भिस्तत्त्व पारगैः ॥ ५ ॥  
अन्यथा नयनैर्मात्रमाकृतिर्दृश्यते तु सा।  
छविस्मरण - मात्रस्य सिद्ध्यत्यत्र प्रयोजनम् ॥ ६ ॥  
प्रेरणा प्राप्तये त्वत्र नूनमावश्यकं मतम्।  
दृश्यानां गौरवं चोच्चस्तराणां तु रहस्यगम् ॥ ७ ॥  
ज्ञायेतैभिश्च तादात्म्य भावनास्याच्च निर्मिता।  
अतोऽन्यूनेन सिद्धं स्यादृर्शनस्य प्रयोजनम् ॥ ८ ॥  
टीका—आज प्रवास का पंचम दिन था। देवर्षि नारद के मार्गदर्शन में हिमालय के रहस्यों का पर्यवेक्षण करती हुई ब्रह्मवेत्ताओं की मंडली उस क्षेत्र के पर्यटन का आनंद ले रही थी। मात्र नेत्रों से देखा गया दृश्य तो मात्र कौतूहल का समाधान करता है। उसके साथ जब विचारणाएँ व भावनाएँ जुड़ जाती हैं तब उसे दिव्य दर्शन कहते हैं। इसी का संक्षिप्त नाम दर्शन है। देव प्रतिमाओं एवं ऋषियों का ऐसा ही दर्शन करने का माहात्म्य तत्त्वज्ञ विद्वानों ने कहा है। अन्यथा आँखों से देखने पर तो आकृति भर दीखती है। उससे तो छवि स्मरण आने जितना ही प्रयोजन भर सधता है। प्रेरणा प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उच्चस्तरीय दृश्यमानों की रहस्यमयी गरिमा समझी जाए और साथ ही उसके साथ तादात्म्य होने की

भावना बनाई जाए। इससे कम में दर्शन का महान प्रयोजन सधता नहीं ॥ १-८ ॥

मनीषिमण्डलं तच्च रहस्यं नारदो मुनिः।  
बोधयंस्तदृषीणां च स्थानान्येवं क्रिया अपि ॥ ९ ॥  
दर्शयन्ग्रतोऽगात्स येषां हेतोर्हिमालयः।  
जडोऽपि जातः श्रद्धेयो देवश्चैतन्य सम्भृतः ॥ १० ॥  
टीका—नारद जी मनीषि मंडल को यह रहस्य बताते हुए उन ऋषियों के स्थानों एवं क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराते चल रहे थे जिनके कारण हिमालय का जड़ दिखने वाला क्षेत्र चैतन्य देवता जैसा श्रद्धास्पद एवं सामर्थ्यवान बना ॥ ९-१० ॥

पञ्चमे दिवसे चाद्य दर्शयामास नारदः।  
कार्यक्षेत्राणि सर्वेषामृषीणां यत्र संततम् ॥ ११ ॥  
अनुसंधानकर्षेणां वनस्पति - विधावगात्।  
शारीरं मानुषं चास्ति वनस्पतिसमुद्भवम् ॥ १२ ॥  
मांसपिण्डमिदं सर्वं वदन्त्येव तथैव च।  
मांसं रूपान्तरं नूनमाहारस्यैव वर्तते ॥ १३ ॥  
आहारो जीवनस्योक्तं प्रमुखं साधनं तथा।  
आहारस्यानुकूलश्च वपुश्चित्तस्तरो भवेत् ॥ १४ ॥  
यत्स्तरं वपुर्दिष्टं स्यात्तथाऽऽहार - व्यवस्थितिः।  
विधातव्या तथा येषां विशेषरससंभृताम् ॥ १५ ॥  
पदार्थानामिहाधिव्यान्यूनतायाश्च कारणात्।  
कायसन्तुलनं नृणां प्रायस्तद् व्यतिगच्छति ॥ १६ ॥  
तत्पूर्यतेऽनुरूपेण शुद्धाहारेण, तद् भवेत्।  
परिवर्तनमप्यत्र परिवर्द्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥  
टीका—आज पाँचवें दिन नारद जी ने उन ऋषियों के कार्यक्षेत्र दिखाए जिनमें वनस्पतियों के संबंध में उनका अनुसंधान कार्य चला था। मनुष्य शरीर भी वनस्पतियों की ही उत्पत्ति है। उसे मांस पिण्ड कहा जाता है और मांस आहार का ही रूपांतरण है। आहार को जीवन का प्रमुख साधन कहा गया

## ६.२२ प्रज्ञोपनिषद्

है। शरीर और मन का स्तर वैसा ही बनता है जैसा आहार ग्रहण किया जाता है। अस्तु जिस स्तर का भी उन्हें बनाना अभीष्ट हो, वैसे ही आहार का प्रबंध करना चाहिए। जिन रासायनिक पदार्थों की न्यूनाधिकता से काय-संतुलन प्रायः गड़बड़ाता है उनकी पूर्ति के लिए तदनु रूप आहार से परिवर्तन अभिवर्द्धन किया जाना चाहिए ॥ १२-१७ ॥

विद्यात्वाहार संबद्धा मानवोत्कर्षबोधकम्।

अंगजीवनविज्ञानसम्बद्धं तु महत्त्वगम् ॥ १८ ॥

ऋषिभिश्चात्रसन्दर्भं त्वनुसन्धितमुत्तमम्।

गहनं प्रस्तुतं यच्च सर्वसाधारणस्य तत् ॥ १९ ॥

सम्मुखे व्रतचर्चाभिः खाद्याखाद्य विवेचनैः।

अयं विधिस्तु यैर्मर्यैः स्वीकृतो दीर्घजीविनः ॥ २० ॥

नीरोगा अपि ते जाता उपयोगं व्यधुः शुभम्।

स्वास्थ्यसम्पद आप्ताया स्थितिस्तेषां तथेदृशी ॥ २१ ॥

टीका—आहार विद्या जीवन विज्ञान का मानवोत्कर्ष-बोधक अति महत्त्वपूर्ण अंग है। ऋषियों ने इस संदर्भ में गहरी खोजें कीं और सर्व साधारण के सम्मुख व्रतों व औषधियों व खाद्याखाद्य विवेचनों के रूप में प्रस्तुत की। यह विधान अनुशासन जिनने सीखा अपनाया, वे निरोग रहे, दीर्घजीवी बने और उपलब्ध स्वास्थ्य संपदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने की परिस्थितियों में रहे ॥ १८-२१ ॥

यदा स्वास्थ्य - विधेयत्र व्यतिगामितया नरः।

आधिव्याधिभिराक्रांतो जायतेऽत्र तदा सदा ॥ २२ ॥

असन्तुलनमत्रैतत्कर्तुं सन्तुलनस्थितम्।

औषधीनां तु वन्यानामाश्रयो गृह्यते नरैः ॥ २३ ॥

उचितः सरलश्चैष चिकित्साधार उत्तमः।

विधिष्वन्येषु लाभोऽल्पो हानिश्च विपुला मता ॥ २४ ॥

चरकः सुश्रुतश्चक्रदत्तः शाङ्गधरस्तथा।

वाग्भट्टः स तथैवान्ये तत्त्वज्ञानविदांश्चिरम् ॥ २५ ॥

अन्विष्य गहनं वन्याः सर्वेऽप्यौषधयस्तु तैः।

अन्वेषिताः शरीरस्य मनसो ये च कुर्वते ॥ २६ ॥

असन्तुलनमत्रैतत्पूर्णतः सुव्यवस्थितम्।

विषाक्तत्वं विजातीय द्रव्यजं सारयन्त्यलम् ॥ २७ ॥

तत्त्वानां न्यूनता येषां जायते पूरयन्ति तत्।

क्षेत्रजानां क्षेत्रजानि वस्तून्नुगुतान्यलम् ॥ २८ ॥

स्वकीयक्षेत्रसम्भूता वनौषधय उत्तमाः।

खाद्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयोगाय सम्मताः ॥ २९ ॥

टीका—जब भी स्वास्थ्य अनुशासन के व्यतिरेक से आधि-व्याधियों में उलझना पड़ता है तब उस असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए वनौषधियों का आश्रय लिया जाता है। चिकित्सा का यही सरल और सही आधार है। अन्य उपाय अपनाने पर लाभ कम और हानि अधिक है। चरक,

सुश्रुत, वाग्भट्ट, चक्रदत्त, शार्ङ्गधर आदि तत्त्वज्ञानियों ने लंबे समय तक गहरी खोजें की और उन वनौषधियों को खोज निकाला जो शारीरिक और मानसिक असंतुलन को ठीक करती है, विजातीय द्रव्यों की विषाक्तता को निकाल फेंकती हैं। जिन तत्वों की कमी पड़ जाती है, उनकी पूर्ति करती हैं। जो प्राणी जिस क्षेत्र में जन्मते हैं, उन्हीं वहाँ की उपजी हुई खाद्य वस्तुएँ अनुकूल पड़ती हैं। अस्तु यथासंभव अपने क्षेत्र में उत्पन्न हुए खाद्य पदार्थों और वनौषधियों के उपयोग का विधान है ॥ २२-२९ ॥

एकस्मिन् समये चैकं पदार्थं लब्धुमामतम्।

हितकारकमत्यर्थं बहूनां मिश्रणेन तु ॥ ३० ॥

मौलिकास्ते गुणास्तेषां समेषां व्यतियान्त्यपि।

तत्तत्खाद्यैरपेक्ष्यं च लाभं नाप्तुं नरोऽर्हति ॥ ३१ ॥

आहारकल्पे चैकस्य वस्तुनः सेवनं मतम्।

औषधीनां च सम्बन्धे व्यवस्थैषैव वर्तते ॥ ३२ ॥

सम्मिश्रणं यथान्यूनं भवेत्तु तथोत्तमम्।

रक्षितं मौलिकत्वं स्याद् वर्गाणां प्रायशो यथा ॥ ३३ ॥

सम्मिश्रण - समुत्पन्नं संकरत्वं यदस्ति तत्।

आकर्षकं तथोत्तेजकमारंभे प्रतीयते ॥ ३४ ॥

परं कालान्तरे हानिरस्मात्संजायते तु सा।

अनुभवस्य च सारोऽयं वनस्पतिविदामिह ॥ ३५ ॥

प्रवासाभिरतं विद्वन्मण्डलं पर्यवेक्षणम्।

कुर्वद् भिन्नेषु भागेषु रहस्यं त्वध्यगादिदम् ॥ ३६ ॥

ततोलाभमवाप्तुं तमन्येभ्यो दातुमप्यलम्।

निश्चयं कृतवन्तस्ते मण्डलस्थाः समेऽपि तु ॥ ३७ ॥

टीका—एक बार में एक ही पदार्थ लेना अधिक हितकर है। कड़्यों को मिला देने से उस सम्मिश्रण से सभी के मौलिक गुण बदल जाते हैं और जिस खाद्य से जो लाभ मिलने की अपेक्षा की गई थी वह मिल नहीं पाता। अस्तु आहार कल्प विधान में एक ही वस्तु का सेवन कराया जाता है। यही बात औषधियों के संबंध में भी है। सम्मिश्रण से जितना बचा जा सके उत्तम है। हर वर्ग की मौलिकता बनी रहनी चाहिए। मिश्रण से जो संकरत्व होता है वह आरंभ में ही आकर्षक—उत्तेजक लगता है। कालांतर में उससे हानि ही होती है। यही है वनस्पति विज्ञानी ऋषियों के अनुभवों का सार संक्षेप। प्रवासरत विद्वान् मंडली ने विभिन्न क्षेत्रों का पर्यवेक्षण करते हुए इस रहस्य को भली प्रकार समझा और उससे लाभ प्राप्त करने तथा कराते रहने का निश्चय किया ॥ ३०-३७ ॥

सन्दर्भेऽस्मिन् स देवर्षिः पक्षं प्राबोधयत्वलम्।

वानस्पत्यस्य विज्ञानस्यास्ति यः सूक्ष्मशक्तिगः ॥ ३८ ॥

असन्तुलतः सूक्ष्मशरीरस्यास्ति रक्षणम्।

पदार्थस्य स्वरूपं तत्कठोरं द्रवमप्यलम् ॥ ३९ ॥

नेत्रैर्द्रष्टुं भवेच्छक्यं वायुभूतं तृतीयकम्।  
नैवाक्षिगोचरं सूक्ष्मं महाप्राणं महाबलम् ॥ ४० ॥  
जलं हिमस्य रूपे तु कठोरं दृश्यते तथा।  
प्रवाहे द्रवरूपं च वायुभूतं तु वाष्पके ॥ ४१ ॥  
प्रत्येकस्मिन् पदार्थे च स्थितिरैव विद्यते।  
नात्र नश्यति किञ्चित्तु केवलं परिवर्तते ॥ ४२ ॥  
गुणास्तदनुसारं च परिवर्तन्त एव ते।  
न्यूनतामधिगच्छन्ति तथैवाधिकतां क्वचित् ॥ ४३ ॥  
वनस्पतीन् विधातुं च वायुभूतांस्तु वर्तते।  
विशेषं त्वेकविज्ञानमग्निहोत्रं वदन्ति यत् ॥ ४४ ॥  
वृक्षांस्तु समिधारूपे हविष्ये च वनस्पतीन्।  
उपयुज्यत एवात्र यज्ञे मंगलकारिणि ॥ ४५ ॥  
सूक्ष्मा शक्तिरुदेत्येषामेवं स्थूलाच्च वर्तते।  
सूक्ष्मेसामर्थ्यमत्यर्थं जानन्त्येतज्जनाः समे ॥ ४६ ॥

टीका—इसी संदर्भ में देवर्षि ने वनस्पति विज्ञान का वह पक्ष समझाया जिसमें उनकी सूक्ष्म शक्ति का उपयोग किया जाता है और सूक्ष्म शरीर के असंतुलन से त्राण पाया जाता है। पदार्थ के ठोस और द्रव स्वरूप प्रत्यक्ष होने के कारण नेत्रों से देखे जा सकते हैं। तीसरा स्वरूप वायुभूत होता है जो आँखों से दीखता नहीं है। यह सूक्ष्म रूप महाप्राणवान् एवं महाबलशाली है। जल को हिम के रूप में ठोस प्रवाही रूप में द्रव और वाष्प रूप में वायुभूत होते देखा जा सकता है। यही स्थिति हर पदार्थ में है। यहाँ कुछ भी नष्ट नहीं होता, परिस्थितिवश उनमें परिवर्तन होता रहता है। तदनुसार उसके गुण भी बदलते और न्यूनाधिक होते रहते हैं। वनस्पतियों को वायुभूत करने का एक विशेष विज्ञान है जिसे अग्निहोत्र कहते हैं। प्राणिमात्र के लिए मंगलमय इस कार्य में समिधा रूप में और वनस्पतियों को हविष्य बनाया जाता है। इस प्रकार उनकी सूक्ष्म शक्ति उभरती है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की सामर्थ्य अत्यधिक होती है, इस तथ्य को सभी जानते हैं ॥ ३८-४६ ॥

अग्निहोत्रे वायुभूतान् निर्मान्यत्र वनस्पतीन्।  
नासामार्गेण तान् बुद्धौ फुप्फुसे प्रापयन्त्यथ ॥ ४७ ॥  
रक्तस्य माध्यमेनात्र श्वासस्यापि च संभवम्।  
शरीरे प्रेषितुं तस्मात्तत्कालं जायतेऽञ्जसा ॥ ४८ ॥  
द्रवरूपे कठोरे च सेवितानां तु पाचने।  
पदार्थानां प्रभावोऽत्र शरीरे जायते सदा ॥ ४९ ॥  
तस्मिन् विधौ मले मूत्रे शक्तिरेषा प्रयात्यपि।  
विलंबेन प्रभावश्च जायते वपुषि क्रमात् ॥ ५० ॥  
गृहीते त्वग्निहोत्रे च स्वरूपं वायुतां गतम्।  
वानस्पत्यं सपद्येव मर्मस्थानानि गच्छति ॥ ५१ ॥  
चित्तोपचार दृष्ट्या चाऽमोघोऽयं विधिरुत्तमः।  
मस्तिष्कस्य समेष्वेव भागेष्वेवं तदञ्जसा ॥ ५२ ॥

औषधिप्रेषणं श्वासमार्गेणैव सुसंभवम्।

विज्ञानं पृथगेवैतद् गंधस्यास्ति निजं महत् ॥ ५३ ॥

टीका—अग्निहोत्र में वनस्पतियों को वायुभूत किया जाता है। उन्हें नासिका द्वारा मस्तिष्क तथा फेफड़ों में पहुँचाना तथा रक्त और श्वास के माध्यम से समस्त शरीर में तत्काल पहुँचाना संभव होता है। ठोस और द्रव रूप में सेवन किए पदार्थों का प्रभाव पचने पर ही होता है। उस प्रयास में बहुत कुछ मल-मूत्र में निकल जाता है और प्रभाव भी देर में होता है। अग्निहोत्र विद्या को अपनाने पर वनस्पतियों का वायुभूत स्वरूप अतिशीघ्र शरीर के मर्मस्थलों तक पहुँच जाता है। मानसोपचार की दृष्टि से तो यह उपाय अमोघ है क्योंकि मस्तिष्क के हर क्षेत्र में किसी औषधि को पहुँचाना श्वास मार्ग से ही संभव हो सकता है। गंध का अपना अलग विज्ञान है ॥ ४७-५३ ॥

विभिन्नानां च गन्धानां नासया ग्रहणेन तु।

शारीरिकां स्थितौ भेदो मानसिकां विजायते ॥ ५४ ॥

अग्निहोत्रोपयोगोऽत आधि - व्याधि - विनाशने।

अस्माद्धेतोर्मतो लोके प्राणिकल्याणकामुकैः ॥ ५५ ॥

अवाञ्छनीयतानां एव नैवापि स महान्।

गुणः सामर्थ्यवृद्धेः स वर्ततेऽस्मिन् शुभावहः ॥ ५६ ॥

अग्निहोत्रेणत्वग्रौम - कूपैर्योगृह्यते ततः।

आरोग्यं वर्द्धते यश्च भागः श्वासेन गृह्यते ॥ ५७ ॥

प्रतिक्रिया मनः क्षेत्रे शीघ्रं तस्य तु दृश्यते।

अग्निहोत्रे पदार्थानां सूक्ष्मशक्तेः शुभोदयः ॥ ५८ ॥

शक्तिपूर्णं तथैवास्या विजृम्भणमपीह च।

भावना शब्दशक्तिभ्यामिह संभवतः स्वतः ॥ ५९ ॥

टीका—विभिन्न गंधों के नासिका द्वारा ग्रहण करने पर मनुष्य की शारीरिक-मानसिक स्थिति में विशेष प्रकार का अंतर होता है। अग्निहोत्र की उपयोगिता आधि-व्याधियों के निवारण में प्राणिमात्र के हितैषी ऋषियों ने इसी कारण मानी गई है। उसमें अवाञ्छनीयता निवारण का ही नहीं, समर्थता-अभिवर्द्धन का भी महान गुण है। अग्निहोत्र के माध्यम से त्वचा के रोमकूपों द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह आरोग्य बढ़ता है और जो भाग श्वास द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया मनःक्षेत्र पर जल्दी ही दृष्टिगोचर होती है। अग्निहोत्र में पदार्थों की सूक्ष्म शक्ति का प्रकटीकरण व शक्ति पूर्ण विजृम्भण (फैलाव) भावना एवं शब्दशक्ति का समावेश होने पर ही संभव होता है ॥ ५४-५९ ॥

प्रयोज्या ये पदार्थास्ते विशेषविधिना समे।

प्रखरा अपि पूताश्च विधीयन्ते विधानगैः ॥ ६० ॥

आधारेण च तेनैव सामान्या अपि ते ततः।

असामान्यास्तु जायन्ते पदार्थाः पूर्णतः समे ॥ ६१ ॥

## ६.२४ प्रज्ञोपनिषद्

जलाग्नि - समिधागव्याघृतादि - हविषामिह।  
 येषां प्रयोग इष्टस्तु क्रियन्तेऽथोच्चगान्यपि ॥ ६२ ॥  
 यज्ञे प्रयुज्यमानस्य कर्मकांडस्य विद्यते।  
 इदमेव रहस्यं तु नित्यकर्म विधेरलम् ॥ ६३ ॥  
 विधेरस्य प्रयोक्तृणां व्यक्तित्वं ब्राह्मणोचितम्।  
 भवेत्तदैव कर्मैषां वाणी स्यातां परिष्कृते ॥ ६४ ॥  
 एतादृशैः प्रयुक्तैस्त्वैर्मन्त्रैश्च विधिभिः स्वतः।  
 अग्निहोत्रं स्तरं तं तु याति यो यज्ञ उच्यते ॥ ६५ ॥

टीका—प्रयुक्त किए जाने वाले पदार्थों को विशेष विधि से पवित्र और प्रखर बनाया जाता है। उसी आधार पर वे पदार्थ सामान्य से असामान्य बनते हैं। जिस जल, अग्नि, समिधा, हविष्य, गोघृत आदि का उपयोग होता है उसे विधि विशेष से उच्चस्तरीय बनाया जाता है। यही यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले नित्य कर्म विधि स्वरूप कर्मकांड का रहस्य है। इस विधान के प्रयोक्ताओं का व्यक्तित्व भी ब्राह्मणोचित होना चाहिए। तभी उनकी वाणी एवं क्रिया परिष्कृत होती है। ऐसे ही लोगों द्वारा प्रयुक्त किए गए मंत्रों एवं विधानों द्वारा अग्निहोत्र उस स्तर का बनता है जिसे यज्ञ कहते हैं ॥ ६०-६५ ॥

यज्ञमाहात्म्यमुक्तं च शास्त्रेष्वप्यतः स्वपि।  
 अग्निप्रज्वलनं नेदं वस्तुहोमफलं न च ॥ ६६ ॥  
 केवलं मन्यतां, किंतु प्रयुक्तानां यथाविधि।  
 वस्तूनां सूक्ष्मशक्तेरुन्नयनं प्रमुखं मतम् ॥ ६७ ॥  
 कर्मकांडाय यद्यत्र मंत्रोच्चाराय लभ्यते।  
 उपयुक्तः प्रवक्ता तत्साफल्ये नहि संशयः ॥ ६८ ॥  
 कर्मदे यज्ञकृत्तां भवत्येव पुरोधसाम्।  
 पूततामधिकृत्याथ प्रखरत्वमपि स्वयम् ॥ ६९ ॥  
 अग्निहोत्रस्य आश्चर्यजनकं फलमदभुतम्।  
 अस्मिन्नेवविधौ सर्वमवलंबितमस्ति तत् ॥ ७० ॥

टीका—यज्ञ के माहात्म्यों का वर्णन शास्त्रों और आप्त वचनों में सर्वत्र मिलता है। यह मात्र अग्निप्रज्वलन और वस्तु हवन का प्रतिफल नहीं है। विधिपूर्वक प्रयुक्त वस्तुओं का सूक्ष्म शक्ति का उन्नयन उसमें प्रमुख है। कर्मकांड और मंत्रोच्चार के लिए उपयुक्त प्रवक्ता यदि मिल सकें तो उसकी सफलता में संदेह नहीं रह जाता। यह कार्य यज्ञ पुरोहितों की पवित्रता और प्रखरता के आधार पर बन पड़ता है। अग्निहोत्र के आश्चर्यजनक प्रतिफल इसी विधि व्यवस्था पर अवलंबित है। ॥ ६६-७० ॥

उपयोगोऽग्निहोत्रस्य वपुः संबंधिनामथ।  
 मनः संबंधिनां चैव रोगाणां नाशने तथा ॥ ७१ ॥  
 उभयोः क्षेत्रयोश्चापि तस्मिन्नुन्नयने सदा।  
 जायते यज्ञ एषोऽत्र विद्यते स्तर उच्चगः ॥ ७२ ॥  
 वातावृतेः परिष्कारे स सदैव प्रयुज्यते।

राजसूयादियज्ञेषु भौतिकानां तु प्रायशः ॥ ७३ ॥  
 समस्यानां समाधानहेतवे भवति स्म च।  
 तत्स्तरप्रतिभानां तु तदेकीकरणं शुभम् ॥ ७४ ॥  
 वाजपेये च यज्ञे तु धर्मज्ञास्ते मनीषिणः।  
 जायन्ते च परिष्कर्तुं संगता जनमानसम् ॥ ७५ ॥  
 उभे चायोजने वायुमण्डलं परिशोधितम्।  
 निर्धारणं च निश्चेतुं भवतस्तत्र तत्र तु ॥ ७६ ॥  
 प्रयोजनानि चालक्ष्य - विशेषाणि तु पूर्वसु।  
 स्थानेषु हि विशेषेषु यज्ञानायोजयन्त्यपि ॥ ७७ ॥  
 आस्थां प्रति समायातं दूरीकर्तुं तु संकटम्।  
 गायत्री यज्ञ एवास्ति संस्कर्तुं मानसं विधिः ॥ ७८ ॥  
 उत्कृष्टतममेतच्च विधातुं जनजीवनम्।  
 मतं विशेषमेवास्य महत्त्वं वेदपारगैः ॥ ७९ ॥

टीका—अग्निहोत्र का उपयोग शारीरिक-मानसिक रोग निवारण और दोनों ही क्षेत्रों के उन्नयन (अभिवर्द्धन) के निमित्त होता है। यज्ञ इसी का ऊँचा स्तर है। उसे वातावरण के परिशोधन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। राजसूय यज्ञ समारोहों में भौतिक समस्याओं के समाधान हेतु उसी स्तर की प्रतिभाओं का एकीकरण होता है। वाजपेय यज्ञ में जनमानस के परिष्कार की आवश्यकता पूरी करने के लिए धर्म क्षेत्र के मनीषियों का संगम होता है। दोनों ही प्रकार के आयोजन वायुमंडल का परिशोधन का उपाय खोजने और निर्धारण निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए होते हैं। विशेष प्रयोजनों के लिए विशेष स्थानों और पर्वों पर विशेष यज्ञों के अनुष्ठान आयोजन भी होते रहते हैं। आस्था संकट निवारण और जनमानस को परिष्कृत करने के लिए गायत्री यज्ञ ही एकमात्र उपाय है। जनजीवन में उत्कृष्टता भरने के लिए उसका विशेष महत्व वैदिकों द्वारा माना गया है ॥ ७१-७९ ॥

यज्ञे व्यक्तेस्तु चैतन्ये देवत्वस्य सुभावनाम्।  
 परिवर्द्धयितुं नूनं विशेषोऽस्ति गुणो महान् ॥ ८० ॥  
 ब्रह्मकर्मसु यज्ञस्य सर्वत्रैवात एव तु।  
 समावेशोऽनिवार्योऽस्ति मंत्रशक्तिस्तदाश्रयात् ॥ ८१ ॥  
 प्रखरत्वमुपैत्यैवं परिपक्वत्वमप्यलम्।  
 ऋषयः पुरोधसोऽजस्रं श्रयन्ते यज्ञ - सन्निधिम् ॥ ८२ ॥  
 वायुमंडलमत्यर्थं दूषितं तत्र विकृतम्।  
 वातावरण मप्येतन्मृणां दुर्बुद्धि संभवम् ॥ ८३ ॥  
 निराकर्तुमसंदिग्धं क्षमत्वं वर्तते ध्रुवम्।  
 यज्ञोपचारकार्यस्य बलादबुद्धि - प्रभाविणः ॥ ८४ ॥

टीका—यज्ञ में व्यक्ति चेतना में देवत्व की मात्रा बढ़ाने का विशेष महान गुण है। इसलिए ब्रह्मकर्मों में सर्वत्र यज्ञ का अनिवार्य रूप से समावेश किया जाता है। मंत्र शक्ति उसी आधार पर प्रखर परिपक्व होती है। पुरोहित और ऋषि

निरंतर यज्ञ के सान्निध्य में रहते हैं। दूषित वायुमंडल और विकृत मानवीय वातावरण के निराकरण में यज्ञोपचार की क्षमता असंदिग्ध है क्योंकि वह बुद्धि को बलपूर्वक प्रभावित करता है।

यज्ञैर्विधिकृतैः प्राण - पर्जन्यो वर्द्धते दिवि।

वर्षत्यपि जलेनैष वायुना भुवि चान्ततः ॥ ८५ ॥

न्यूनातायास्तु दुर्भिक्षमाधिक्येन च जायते।

सुभिक्षं प्रकृतेश्चापि प्रातिकूल्यं तथैव च ॥ ८६ ॥

आनुकूल्यं तु तत्प्रायस्तिष्ठत्येव तदाश्रितम्।

यज्ञाद् प्राणदपर्जन्य - वर्षणं भवतीह तु ॥ ८७ ॥

तेनाभिवर्षणेनात्र तत्त्वानां पुष्टिदायिनाम्।

बाहुल्यं जायते नूनं वनस्पत्यादिषु स्वयम् ॥ ८८ ॥

तेषां चैवोपभोक्तारः पशवः पक्षिणोऽथ च।

मनुष्या अपि जायन्ते समर्था बलवत्तराः ॥ ८९ ॥

कृषावुद्यान वृक्षेषु कृमयो हानिकारकाः।

उत्पद्यन्ते न कुत्रापि यान्त्युत्पन्ना विनाशिताम् ॥ ९० ॥

टीका—विधिवत् किए गए यज्ञों से अंतरिक्ष में प्राण पर्जन्य बढ़ता है और बरसता है। जल और वायु के साथ पृथ्वी पर आकाश से प्राण भी बरसता है। उसी की न्यूनाधिकता से दुर्भिक्ष सुमिक्ष पड़ते हैं। प्रकृति की प्रतिकूलता-अनुकूलता भी बहुत कुछ उसी स्थिति पर निर्भर रहती है। प्राण-पर्जन्य वर्षा यज्ञ से उपयुक्त मात्रा में होती है। उस अभिवर्षण के कारण वनस्पतियों में पोषण तत्वों का बाहुल्य रहता है और उसका सेवन करने वाले पशु पक्षी और मनुष्य समर्थ एवं बलिष्ठ रहते हैं। कृषि-उद्यानों में हानिकारक कृमि-कीटक नहीं लगते व लगे हों तो नष्ट हो जाते हैं ॥ ८५-९० ॥

इयदेव न मर्त्यानां दुर्विचारा विशन्त्यलम्।

वायावव्यक्तशब्दानां रूपे तेनेदमन्ततः ॥ ९१ ॥

भूमंडलमशेषं तु दूषितं जायतेऽथवा।

वातावरणमत्यर्थं स्थानानां दूषितं भवेत् ॥ ९२ ॥

दुर्विचारा इमे सर्वे जले नायान्ति भूतले।

प्रविशन्ति फलान्नेषु वनस्पत्यादिषु स्वतः ॥ ९३ ॥

एतेषामुपयोक्तृणां दोषणैषा धराऽखिला।

दूषिता जायते यज्ञः परिष्कर्तुं क्षमः समान् ॥ ९४ ॥

टीका—इतना ही नहीं मानवों के दुर्विचार जब अव्यक्त शब्द रूप में वायु में प्रवेश करते हैं तो क्रमशः सारा भूमंडल या तत्तत् स्थानों का वातावरण दूषित हो जाता है। यही दुर्विचार जल के साथ पृथ्वी पर आते हैं व फल वनस्पति अन्न में प्रवेश कर जाते हैं और इनका उपयोग करने पर समस्त पृथ्वी दुर्विचार वाली हो जाती है। इन सब का परिष्कार यज्ञ से ही संभव है ॥ ९१-९४ ॥

प्राणी सामाजिको मर्त्यश्चर्यास्य जीवनस्य तु।

प्रगतिश्च बहूनां सा सहयोगस्य लब्धिभिः ॥ ९५ ॥

व्यवतिष्ठत आदान प्रदानाभ्यां परस्परम्।

साधनानि नरा नूनं संगृह्णन्ति तथैव च ॥ ९६ ॥

लाभं तेऽनुभवोत्पन्नं हस्तगं कारयन्ति च।

जन्मदात्री समृद्धेः सा प्रगतेः सहकारिता ॥ ९७ ॥

आधारमिममाश्रित्य नरः सामर्थ्यवानपि।

बुद्धिमान् धनवांश्चैव बभूवाद्यापि जायते ॥ ९८ ॥

टीका—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी जीवनचर्या और प्रगति अनेकानेकों का सहयोग उपलब्ध होने पर ही ठीक प्रकार चलती है। मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदान से एक दूसरे के लिए सुविधा साधन जुटाते और अनुभवजन्य लाभ लोगों को हस्तगत कराते हैं। सहकारिता ही प्रगति और समृद्धि की जन्मदात्री है। इसी आधार पर मनुष्य बुद्धिमान, सामर्थ्यवान और संपत्तिवान बना है व आज भी बन रहा है ॥ ९५-९८ ॥

समुदायानुदानेऽस्मिन् पशूनां पक्षिणामपि।

योगदानं नहि न्यूनं विद्यते सुमहांस्तथा ॥ ९९ ॥

सहयोगोऽस्ति वृक्षाणां येषामेवानुदानतः।

मानवः प्रगतिं याति जीवत्यपि महीतले ॥ १०० ॥

एभ्यो लभ्यो भवत्येष प्राणवायुः सदैव तु।

आहारो बीजपत्रादिकंद - प्रसव - रूपतः ॥ १०१ ॥

प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र मेघा आकर्षणेन च।

वर्षन्त्येषां च मूलानि जलं रुन्धन्ति भूतले ॥ १०२ ॥

खाद्योर्वरां धरा शक्तिं पत्रैः प्राप्नोति संततम्।

तद्गतानीन्धनानीह भवनानां विनिमित्तौ ॥ १०३ ॥

विना नैवेन्धनैः कार्यं सिद्ध्यत्यन्नानि तान्यलम्।

वस्त्राण्यपि ददत्येते वनस्पतय उत्तमाः ॥ १०४ ॥

टीका—इस सामुदायिकता में पशु-पक्षियों का भी कम योगदान नहीं है। इससे भी बड़ा सहयोग वृक्ष वनस्पतियों का है। वृक्ष वनस्पतियों के अनुदानों से ही मनुष्य जीवित रहता और प्रगतिशील बनता है। प्राण, वायु उन्हीं से मिलती है। आहार उन्हीं के बीज, पत्तों, कंदों और फलों से उपलब्ध होते हैं। वर्षा के बादल उन्हीं के खिंचाव से बरसते हैं। वर्षा के जल को भूमि में रोकने का काम जड़ें ही करती हैं। धरती के उर्वरक खाद उनके पत्रों से मिलती है। ईंधन उन्हीं की देन है। भवन निर्माण में लकड़ी के बिना काम नहीं चलता। अन्न, वस्त्र जैसी आवश्यकता वनस्पतियाँ ही पूरी करती हैं ॥ ९९-१०४ ॥

आलक्ष्यैवानुदानानि महान्तीह वनस्पतीन्।

संजीवनीतिनाम्नैव कीर्तयन्ति जनाः समे ॥ १०५ ॥

वनस्पति - वृक्षेषु बहवो देवता इव।

पूज्यन्ते पूजिताः पूर्वं कृतज्ञैः पुरुषैः सदा ॥ १०६ ॥

## ६.२६ प्रज्ञोपनिषद्

कुटुंबेन यथामर्त्यः सुखं वसति स तथा ।  
सुखिने जीवनायैव निवासेऽस्य तथैव च ॥ १०७ ॥  
कार्यक्षेत्रे भवेदेव हरितत्वं तु प्रायशः ।  
सुमनःसु हसत्स्वत्र सुषमा सा विलोक्यते ॥ १०८ ॥

टीका—इन अनुदानों को देखते हुए वनस्पतियों को “जीवन मूरि” (संजीवनी) कहा जाता रहा है। वृक्षों और वनस्पतियों में से अनेकों को देवता की तरह पूजा जाता रहा है व आज भी पूजे जाते हैं। जिस प्रकार परिवार के साथ सुखपूर्वक रहा जाता है, उसी प्रकार सुखी जीवन के लिए निवास स्थान एवं कार्य क्षेत्र में हरीतिमा का बाहुल्य रहना चाहिए। हँसते-हँसाते पुष्पों में शोभा सौंदर्य का भंडार माना गया है ॥ १०५-१०८ ॥

अभिवर्द्धनमेतेषां परिपोषणमप्यथ ।  
सरक्षणं कथं कार्यं वृक्षादीनां विधाविह ॥ १०९ ॥  
ऋषयो ज्ञानमापुस्ते गहनं चक्रुरत्र च ।  
उद्यानानां नृभिः सार्धं स्थापनां स्वयमप्यथ ॥ ११० ॥  
वनस्पतिभिरावास - प्रेरणामृषयो ददुः ।  
साधारणेभ्यो मर्त्येभ्यो वसन्तः तैः सह स्वयम् ॥ १११ ॥  
कारणं चेदमेवास्ति यदृषीणां वनौकसाम् ।  
आवास वर्णने वृक्ष लतानां सरसामपि ॥ ११२ ॥  
वनस्पत्यादिकानां च निर्झराणां च वर्णनम् ।  
पशुपक्षिकलारावर्णनं विद्यते बहु ॥ ११३ ॥  
स्वर्गस्यगौरवं प्रोक्तं नन्दनं वनमाश्रितम् ।  
सुखिनः समुन्नतान् कर्तुं मानवांस्ते व्यधुः स्वयम् ॥ ११४ ॥  
कृष्युद्यानादि - संबद्धशोधकार्याण्यथापि च ।  
सोत्साहंश्च नरांश्चक्रुः प्राप्तुं प्रावीण्यमत्र तु ॥ ११५ ॥  
क्षेत्राणि विविधान्यत्र प्रवासस्थं तु मंडलम् ।  
सोत्साहं तत्र चाद्राक्षीन्ननन्दुश्च मनीषिणः ॥ ११६ ॥

टीका—वृक्ष वनस्पतियों का अभिवर्द्धन, परिपोषण, संरक्षण कैसे किया जाए, इस विधा की ऋषिगण गहरी जानकारी प्राप्त करते रहे हैं। वे स्थान-स्थान पर अगणित उद्यान लगाते-लगवाते रहे हैं। वनस्पतियों के साथ गुँथे रहने की प्रेरणा वनस्पतियों के साथ रहने वाले ऋषिगण सदैव जन-साधारण को देते रहे हैं। स्वर्ग का गौरव नंदन वन पर आधारित बताया गया है। मनुष्यों को सुखी समुन्नत बनाने के लिए उनसे कृषि, उद्यान से संबंधित अगणित तथ्यों को खोजा और उस कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए जन-जन को उकसाया। इस

कार्य में प्रयुक्त हुए अनेक क्षेत्र प्रवास मंडली ने उत्साहपूर्वक देखे और सभी मनीषीगण अति प्रसन्न हुए ॥ १०९-११६ ॥

नारदो दर्शयामास तानि स्थानानि तत्र च ।  
असंख्यानि तु येष्वत्र क्षेत्रेऽभूवन् बहून्वहो ॥ ११७ ॥  
अनुसंधान - कार्याणि यज्ञविज्ञानगानि च ।  
तद्वनस्पतिविज्ञानसंबद्धान्यपि संततम् ॥ ११८ ॥  
तत्प्रयोजनहेतोश्च यत्र जातानि तानि तु ।  
आयोजनानि सोत्साहैराप्तो लाभो नैररपि ॥ ११९ ॥  
ऊर्जो विज्ञानगः प्रोच्य उपयोगः कथं कियान् ।  
अग्निहोत्रैस्तथा यज्ञैस्तत्राक्रियत शोभनः ॥ १२० ॥  
तस्याधारेण संसारः कियन्तं लाभमाप्तवान् ।  
इतिहासमिमं सर्वं श्रावयामास नारदः ॥ १२१ ॥  
तत्प्रयोगाभिसंबद्ध - क्षेत्रमस्याक्षिगोचरम् ।  
मंडलस्य व्यधात्तत्र नारदो यर्हि तर्हि ते ॥ १२२ ॥  
सदस्या मंडलस्थास्तु परमानंदमाययुः ।  
पर्यवेक्षण यात्रायां संतुष्टास्ते विशेषतः ॥ १२३ ॥

टीका—नारद जी ने उन अगणित स्थानों को भी दिखाया जहाँ इस क्षेत्र में वनस्पति विज्ञान तथा यज्ञ विज्ञान के गहन अनुसंधान होते थे। जहाँ उस प्रयोजन के निमित्त बड़े-बड़े आयोजन हुए और अनेकानेकों ने उत्साह पूर्वक लाभ उठाए। ऊर्जा विज्ञान का उच्चस्तरीय उपयोग अग्निहोत्र एवं यज्ञादि द्वारा किस प्रकार किया जाता रहा और उस आधार पर समस्त संसार को कितना लाभ मिला, यह इतिहास देवर्षि नारद द्वारा सुनाया गया। तथा उस प्रयोग से संबंधित अनेकानेक स्थलों क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराया गया तो प्रवास मंडली के प्रत्येक सदस्य को बहुत आनंद मिला और उस यात्रा पर्यवेक्षण पर विशेष संतोष हुआ ॥ ११७-१२३ ॥

दिनं परिणतं दृष्ट्वा खाद्यचिन्ता तथैव च ।  
योग्यावासस्य चिन्ताऽपि समायाता तु सम्मुखे ॥ १२४ ॥  
उभयोश्च समाधाने सूर्येऽस्ते स्थगिता समैः ।

यात्रा नित्यविधिं कृत्वा रात्रिवासं व्यधुः सुखम् ॥ १२५ ॥  
टीका—दिन ढलने लगा तो खाद्य पदार्थ ढूँढ़ने और रात्रि विश्राम के लिए उपयुक्त स्थान खोजने की चिन्ता होने लगी। दोनों ही साधन जुट गए तो सूर्यास्त होने पर यात्रा को विराम दिया गया। नित्यकर्म से निवृत्त होकर मंडली के सदस्य सुखपूर्वक रात्रि बिताने लगे।

॥ इति श्रीमद्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः,

युगदर्शनसाधना प्रकटीकरणयोः महर्षिनारदप्रतिपादित - यज्ञविज्ञान वनस्पति विज्ञान इति प्रकरणो नाम पंचमोऽध्यायः ॥